

Chapter बारह

पूर्ण समाज : चार आध्यात्मिक वर्ग

इस अध्याय में चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—के सामान्य वर्णन के साथ ही ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थ का विशेष वर्णन हुआ है। पिछले अध्याय में नारद मुनि ने समाज के वर्ण संस्थान का वर्णन किया है और अब वे इस अध्याय में चारों आश्रमों में आध्यात्मिक उन्नति की अवस्थाओं का वर्णन करेंगे जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के नाम से जानी जाती हैं।

ब्रह्मचारी को वास्तविक गुरु के संरक्षण में रहना चाहिए, गुरु का सच्चा आदर करना चाहिए, उन्हें नमस्कार करना चाहिए और उनका तुच्छ सेवक बनकर उनके आदेशों का सदा पालन करना चाहिए। ब्रह्मचारी को आध्यात्मिक कार्यों में लगना चाहिए और गुरु के निर्देशन में वैदिक साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य प्रणाली के अनुसार उसे मेखला, मृगचर्म, जनेऊ तथा जटा धारण करना चाहिए और हाथ में दण्ड तथा जलपात्र रखना चाहिए। उसे प्रतिदिन प्रातः भिक्षाटन करना चाहिए और शाम को जितनी भिक्षा मिले उसे लाकर गुरु को अर्पित कर देनी चाहिए ब्रह्मचारी को गुरु का आदेश मिलने पर ही प्रसाद स्वीकार करना चाहिए और यदि कभी गुरु अपने शिष्य को खाने की आज्ञा देना भूल जाये तो शिष्य को चाहिए कि अपने आप प्रसाद ग्रहण न करे प्रत्युत उपवास करे। ब्रह्मचारी को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए कि जितना नितान्त आवश्यक हो उतने ही भोजन से सन्तुष्ट रहे, अपने उत्तरदायित्व को निभाने में पटु बने, आज्ञाकारी बने तथा अपनी इन्द्रियों पर संयम रखे तथा जहाँ तक सम्भव हो स्त्रियों की संगति से बचे। ब्रह्मचारी को चाहिए कि स्त्रियों के साथ रहने से पूरी तरह बचे और गृहस्थों तथा स्त्री-अनुरक्तों से कभी न मिले। न ही वह किसी स्त्री से एकान्त में बातें करे।

इस प्रकार अपनी शिक्षा पूरी कर लेने के बाद ब्रह्मचारी को चाहिए कि अपने गुरु को दक्षिणा दे और तब अपने घर के लिए विदा हो तथा अगले आश्रम—*गृहस्थ आश्रम*—में प्रवेश करे; अन्यथा शुद्धतापूर्वक ब्रह्मचर्य आश्रम में ही स्थित रहे। शास्त्रों में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा संन्यास आश्रम के कार्यों का उल्लेख है। गृहस्थ को मनमाना कामासक्त-जीवन का भोग करने की छूट नहीं है। निस्सन्देह, वैदिक जीवन का पूर्ण उद्देश्य विषयासक्ति से मुक्त होना है। सारे आश्रम आध्यात्मिक उन्नति के लिए स्वीकृत हैं और यद्यपि गृहस्थ आश्रम में कुछ काल के लिए कामासक्त-जीवन के लिए छूट है, किन्तु यह मनमाने कामासक्त-जीवन की अनुमति प्रदान नहीं करता। अतएव गृहस्थ-जीवन में भी अवैध मैथुन की अनुमति नहीं है। गृहस्थ को विषय-सुख के लिए कोई स्त्री स्वीकार नहीं करनी चाहिए। वीर्य का विनाश भी अवैध मैथुन है।

गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थ आश्रम आता है, जो गृहस्थ तथा संन्यास के बीच में है। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति को अन्न खाने पर प्रतिबन्ध रहता है और उसे ऐसे फल भी नहीं खाने चाहिए जो पेड़ पर न पके हों। उसे अग्नि में भोजन पकाना भी मना रहता है। यद्यपि वह चरु अर्थात् वह अन्नजों यज्ञ की अग्नि में भेट किया जाता है खा सकता है। वह प्राकृतिक रूप में उगे फल तथा अन्न खा सकता है। उसे घास फूस की झोपड़ी में रहकर जाड़ा तथा गर्मी सहन करना होता है। वह नाखून या बाल नहीं काट सकता। उसे अपना शरीर तथा दाँत साफ करना मना रहता है। उसे वृक्ष की छाल पहननी होती है और दण्ड धारण करना पड़ता है। उसे बारह वर्ष, आठ वर्ष, चार वर्ष, दो वर्ष या कम से कम एक वर्ष तक जंगल में जीवन बिताने का अभ्यास करना होता है। अन्त में जब वह वृद्धावस्था के कारण वानप्रस्थ के कार्य नहीं कर पाता तो उसे सब कुछ बन्द करके शरीर त्याग देना चाहिए।

श्रीनारद उवाच

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन्दान्तो गुरोर्हितम् ।
आचरन्दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृदः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; ब्रह्मचारी—गुरु के घर पर रहने वाला विद्यार्थी, ब्रह्मचारी; गुरु-कुले—गुरु के निवासस्थान पर; वसन्—रहते हुए; दान्तः—निरन्तर इन्द्रिय संयम करते हुए; गुरोः हितम्—केवल गुरु के लाभ के लिए (अपने लाभ के लिए नहीं); आचरन्—अभ्यास करते हुए; दास-वत्—दास के समान अत्यन्त विनीत होकर; नीचः—विनम्र; गुरौ—गुरु में; सु-दृढ—दृढ़तापूर्वक; सौहृदः—मित्रता में या शुभकामना में।

नारद मुनि ने कहा : विद्यार्थी को चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखने का अभ्यास करे। उसे विनीत होना चाहिए और गुरु के साथ दृढ़ मित्रता की प्रवृत्ति रखनी चाहिए। ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह महान् व्रत लेकर गुरुकुल में केवल अपने गुरु के लाभ ही रहे।

सायं प्रातरुपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान् ।
सन्ध्ये उभे च यतवाग्जपन्ब्रह्म समाहितः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सायम्—संध्या समय; प्रातः—प्रातः काल; उपासीत—पूजा करे; गुरु—गुरु; अग्नि—आग (अग्नि यज्ञ द्वारा); अर्क—सूर्य;
सुर-उत्तमान्—तथा पुरुषों में श्रेष्ठ (पुरुषोत्तम) भगवान् विष्णु को; सन्ध्ये—प्रातः तथा सायंकाल; उभे—दोनों; च—भी; यत-
वाक्—बिना बोले, मौन रहकर; जपन्—मन ही मन गुनगुनाते हुए; ब्रह्म—गायत्री मंत्र में; समाहितः—पूर्णतया लीन।

दिन तथा रात्रि के संधिकाल में अर्थात् प्रातःकाल तथा संध्या समय उसे गुरु, अग्नि, सूर्यदेव तथा भगवान् विष्णु के विचारों में लीन रहना चाहिए और गायत्री मंत्र को जपते हुए उनकी पूजा करनी चाहिए।

छन्दांस्यधीयीत गुरोराहूतश्चेत्सुयन्त्रितः ।
उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

छन्दांसि—वेदों के मंत्र यथा हरे कृष्ण महामंत्र तथा गायत्री मंत्र; अधीयीत—उच्चारण करे या नियम से पढ़े; गुरोः—गुरु से;
आहूतः—बुलाया जाकर; चेत्—यदि; सु-यन्त्रितः—आज्ञाकारी, सभ्य; उपक्रमे—प्रारम्भ में; अवसाने—अन्त में (वेद मंत्रों के पढ़ने में); च—भी; चरणौ—चरणकमलों पर; शिरसा—सिर के बल; नमेत्—नमस्कार करे।

गुरु द्वारा बताए जाने पर विद्यार्थी को चाहिए कि वह उनसे नियमपूर्वक वैदिक मंत्रों का अध्ययन करे। शिष्य को प्रतिदिन अपना अध्ययन प्रारम्भ करने के पूर्व तथा अध्ययन के अन्त में अपने गुरु को सादर नमस्कार करना चाहिए।

मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून् ।
बिभ्र्यादुपवीतं च दर्भपाणिर्यथोदितम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

मेखला—मूँज की मेखला; अजिन-वासांसि—मृगचर्म से बने वस्त्र; जटा—बालों की जटा; दण्ड—डण्डा; कमण्डलून्—
कमण्डल या जलपात्र; बिभ्र्यात्—उसे (ब्रह्मचारी को) सदैव पहनना या लिये रहना चाहिए; उपवीतम् च—तथा जनेऊ; दर्भ-
पाणिः—शुद्ध कुश हाथ में लिये; यथा उदितम्—शास्त्रों में बताई विधि से।

अपने हाथ में शुद्ध कुश घास लिए हुए ब्रह्मचारी को मूँज की मेखला तथा मृगछाला का वस्त्र पहनना चाहिए। उसे शास्त्रोक्त विधि से जटा रखना चाहिए, दण्ड धारण करना चाहिए, कमण्डल लेना चाहिए और यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए।

सायं प्रातश्चरेद्भैक्ष्यं गुरुवे तन्निवेदयेत् ।
भुञ्जीत यद्यनुज्ञातो नो चेदुपवसेत्क्वचित् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सायम्—संध्या समय; प्रातः—प्रातःकाल; चरेत्—बाहर जाना चाहिए; भैक्ष्यम्—भिक्षा माँगने; गुरुवे—गुरु को; तत्—वह जितना एकत्र करता है; निवेदयेत्—अर्पित करे; भुञ्जीत—खाए; यदि—यदि; अनुज्ञातः—(गुरु द्वारा) आज्ञा दिये जाने पर; नो—अन्यथा; चेत्—यदि; उपवसेत्—उपवास रखे; क्वचित्—कभी।

ब्रह्मचारी को सुबह-शाम भिक्षा माँगने के लिए बाहर जाना चाहिए और जो कुछ भी भिक्षा में मिले उसे लाकर गुरु को दे दे। वह तभी भोजन करे जब गुरु उसे भोजन करने का आदेश दे, अन्यथा यदि कभी गुरु आदेश न दे, तो वह कभी कभी उपवास करे।

सुशीलो मितभुग्दक्षः श्रद्धानो जितेन्द्रियः ।
यावदर्थं व्यवहरेत्स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सु-शीलः—अत्यन्त नम्र तथा सभ्य; मित-भुक्—आवश्यकता से न तो कम और न अधिक भोजन करना; दक्षः—पटु, आलस्य से रहित, सदैव कार्यरत; श्रद्धानः—शास्त्र तथा गुरु के आदेशों में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला; जित-इन्द्रियः—इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखने वाला; यावत्-अर्थम्—जितना आवश्यक हो; व्यवहरेत्—बाह्यरूप से आचरण करे; स्त्रीषु—स्त्रियों से; स्त्री-निर्जितेषु—पुरुष जो स्त्री के वश में होते हैं; च—भी।

ब्रह्मचारी को सदाचारी तथा भद्र होना चाहिए। उसे न तो आवश्यकता से अधिक खाना चाहिए न एकत्र करना चाहिए। उसे सदैव क्रियाशील तथा पटु होना चाहिए और गुरु तथा शास्त्रों के आदेशों में पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। उसे अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखते हुए स्त्रियों से या स्त्रियों के वशीभूत पुरुषों से उतनी ही संगति करनी चाहिए जितनी कि आवश्यक हो।

तात्पर्य : ब्रह्मचारी को काफी सतर्क रहना चाहिए कि वह स्त्रियों या स्त्रियों के वशीभूत पुरुषों की संगति न करे। यद्यपि भिक्षा माँगने के लिए बाहर जाने पर उसे ऐसे लोगों से बोलना ही पड़ता है, किन्तु यह सम्पर्क बहुत अल्प होना चाहिए और उसे केवल भिक्षा के सम्बन्ध में ही बातें करनी चाहिए। उसे उन व्यक्तियों से भी सावधान रहना चाहिए जो स्त्रियों के प्रति अनुरक्त होते हैं।

वर्जयेत्प्रमदागाथामगृहस्थो बृहद्व्रतः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

वर्जयेत्—त्याग दे; प्रमदा-गाथाम्—स्त्रियों से बातें करना; अगृहस्थः—जिसने गृहस्थ आश्रम नहीं स्वीकार किया (ब्रह्मचारी या संन्यासी); बृहत्-व्रतः—ब्रह्मचर्य व्रत का पालन; इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को; प्रमाथीनि—प्रायः अजेय; हरन्ति—चुरा लेती हैं; अपि—भी; यतेः—संन्यासी का; मनः—मन।

ब्रह्मचारी या अगृहस्थ को स्त्रियों से बातें करने या उनके विषय में बातें करने से दृढ़तापूर्वक बचना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि वे संन्यासी के मन को भी विचलित कर सकती हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मचर्य का अर्थ है विवाह न करने का व्रत धारण करना तथा पूर्ण ब्रह्मचर्य (बृहद्व्रत) रखना। ब्रह्मचारी या संन्यासी को स्त्रियों से बातें करने या स्त्री एवं पुरुष की वार्ता वाले साहित्य को पढ़ने से बचना चाहिए। स्त्रियों की संगति पर पाबन्दी का आदेश आध्यात्मिक जीवन का मूल मंत्र है। स्त्रियों से बातें करने या उनकी संगति करने का परामर्श किसी भी वैदिक ग्रन्थ में नहीं मिलता। समग्र वैदिक प्रणाली मनुष्य को विषयी जीवन से बचने की शिक्षा देती है, जिससे वह क्रमशः ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से संन्यास की दिशा में बढ़ता जाए और भौतिक भोग का त्याग करे जो इस भवबन्धन का मूल कारण है। बृहद्व्रत उस व्यक्ति का सूचक है, जिसने विवाह न करने का निश्चय किया हुआ है अथवा दूसरे शब्दों में, ऐसा व्यक्ति जो आजीवन कामासक्त-जीवन में अनुरक्त नहीं होता।

केशप्रसाधनोन्मर्दस्नपनाभ्यञ्जनादिकम् ।
गुरुस्त्रीभिर्युवतिभिः कारयेन्नात्मनो युवा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

केश-प्रसाधन—बाल काढ़ना; उन्मर्द—शरीर की मालिश; स्नपन—स्नान; अभ्यञ्जन-आदिकम्—तेल मर्दन आदि; गुरु-स्त्रीभिः—गुरु की पत्नी से; युवतिभिः—युवती; कारयेत्—करवाए; न—नहीं; आत्मनः—निज सेवा के लिए; युवा—यदि विद्यार्थी युवक हो।

यदि गुरुपत्नी युवती हो तो युवा ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह न तो उससे अपने बाल कढ़वाए, न शरीर में तेल मालिश करवाए और न उसे माता तुल्य प्यार से स्नान कराने दे।

तात्पर्य : शिष्य तथा गुरु-पत्नी के मध्य माता-पुत्र का सा सम्बन्ध होता है। कभी-कभी माता अपने पुत्र के बाल काढ़ती है, उसके शरीर में तेल मलती है या उसे नहलाती है। इसी प्रकार गुरु-पत्नी भी माता होती है, अतएव उसे भी माता तुल्य शिष्य की परवाह करनी चाहिए। किन्तु यदि गुरु-पत्नी युवती हो तो युवक ब्रह्मचारी को चाहिए कि ऐसी माता को अपना स्पर्श न करने दे। इसका कठोर निषेध है। माताएँ सात प्रकार की हैं—

आत्ममाता गुरोः पत्नी ब्राह्मणी राजपत्निका ।

धेनुर्धात्री तथा पृथ्वी सप्तैता मातरः स्मृताः ॥

ये माताएँ हैं—जन्मदात्री माता, गुरु की पत्नी, ब्राह्मण पत्नी, राजा की पत्नी, गाय, धाय तथा पृथ्वी। स्त्रियों के साथ अनावश्यक संगति वर्जित है यहाँ तक कि अपनी माता, बहिन या पुत्री के साथ भी। यही मानवीय सभ्यता है। जिस सभ्यता में मनुष्यों को स्त्रियों के साथ बिना रोक-टोक के मिलने दिया जाता है, वह पाशविक सभ्यता है। कलियुग में लोग अत्यन्त उदार हैं, लेकिन स्त्रियों से घुल-मिलकर बातें करना वास्तव में असभ्य जीवन-शैली है।

नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान् ।

सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; अग्निः—अग्नि; प्रमदा—स्त्री (पुरुष के मन को मोहने वाली); नाम—नाम ही; घृत-कुम्भ—घी के बर्तन के; समः—समान; पुमान्—मनुष्य; सुताम् अपि—अपनी पुत्री के भी; रहः—एकान्त स्थान में; जह्यात्—साथ न रहे; अन्यदा—किसी अन्य स्त्री के साथ भी; यावत्—जितना; अर्थ-कृत्—आवश्यक हो।

स्त्री अग्नि के तुल्य है और पुरुष घी के घड़े के समान होता है। अतएव पुरुष को चाहिए कि अपनी पुत्री के साथ भी एकान्त में न रहे। इसी प्रकार उसे अन्य स्त्रियों की संगति से बचना चाहिए। स्त्रियों से आवश्यक कार्य के लिए ही मिलना चाहिए, अन्यथा नहीं।

तात्पर्य : यदि घी का बर्तन और अग्नि पास-पास रखे जाँय तो बर्तन का घी निश्चित रूप से पिघलेगा। स्त्री की उपमा अग्नि से और पुरुष की घी के बर्तन से दी गई है। कोई कितना ही इन्द्रियसंयमी क्यों न हो, स्त्री की उपस्थिति में उसका संयमित रह पाना लगभग अस्मभव हो जाता है, भले ही वह स्त्री उसकी निजी पुत्री, माता या बहन क्यों न हो। निस्सन्देह, संन्यासी तक का मन विचलित हो जाता है। अतएव वैदिक सभ्यता पुरुषों तथा स्त्रियों के मिलने पर प्रतिबन्ध लगाती है।

यदि कोई पुरुष-स्त्री के इस संयोग के निषेध के मूल सिद्धान्त को नहीं समझ सकता तो वह निरा पशु है। यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

कल्पयित्वात्मना यावदाभासमिदमीश्वरः ।

द्वैतं तावन्न विरमेत्ततो ह्यस्य विपर्ययः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कल्पयित्वा—निश्चय करके; आत्मना—आत्म-साक्षात्कार द्वारा; यावत्—जब तक; आभासम्—प्रतिबिम्ब (मूल शरीर तथा इन्द्रियों का); इदम्—यह (शरीर इन्द्रियाँ); ईश्वरः—मोह से पूर्णतया मुक्त; द्वैतम्—द्वन्द्व; तावत्—तब तक; न—नहीं; विरमेत्—देखता है; ततः—ऐसे द्वैत से; हि—निश्चय ही; अस्य—पुरुष का; विपर्ययः—प्रतिक्रिया, जवाबी कार्यवाही।

जब तक जीव पूर्णरूपेण स्वरूपसिद्ध नहीं है—जब तक वह देहात्मबुद्धि की भ्रान्त धारणा से मुक्त नहीं हो लेता जो कि मूल शरीर तथा इन्द्रियों का प्रतिबिम्ब मात्र है तब तक वह उस द्वैत भाव से छुटकारा नहीं पा सकता जो स्त्री तथा पुरुष के मध्य द्वैत का सूचक है। इस तरह हर इसकी हर सम्भावना रहती है कि वह नीचे गिर जाए, क्योंकि उसकी बुद्धि मोहित होती है।

तात्पर्य : यहाँ पर दूसरी महत्वपूर्ण चेतावनी है कि मनुष्य अपने को स्त्री-आकर्षण से बचाए। जब तक कोई स्वरूपसिद्ध नहीं हो लेता तथा देहात्मबुद्धि से पूर्णतया स्वतंत्र नहीं हो जाता तब तक स्त्री तथा पुरुष का द्वैत निश्चय ही बना रहेगा। किन्तु वस्तुतः स्वरूपसिद्ध होने पर यह अन्तर जाता रहता है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

“विनीत साधु अपने असली ज्ञान के बल पर विद्वान तथा भद्र ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चण्डाल को सम दृष्टि से देखता है” (भगवद्गीता ५.१८)। आध्यात्मिक स्तर पर विद्वान व्यक्ति न केवल स्त्री-पुरुष के द्वैत का परित्याग कर देता है, अपितु पुरुष तथा पशु के द्वैत को भी त्याग देता है। आत्म-साक्षात्कार की यही परीक्षा है। मनुष्य को इसकी भलीभाँति अनुभूति होनी चाहिए कि जीव आत्मा है, किन्तु वह विविध भौतिक शरीरों का स्वाद ले रहा है। सिद्धान्त रूप में तो मनुष्य इसे समझता है, किन्तु जब उसे व्यावहारिक अनुभूति होती है, तो वह वास्तव में पण्डित बन जाता है। उस समय तक द्वैत बना रहता है और स्त्री-पुरुष की भी धारणा बनी रहती है। इस अवस्था में उसे स्त्रियों के साथ घुलमिल कर रहने में सतर्कता बरतनी होगी। किसी को अपने आपको पूर्ण समझ कर शास्त्रों के इस आदेश को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि मनुष्य को न केवल किसी स्त्री से अपितु अपनी पुत्री,

माता या बहन के साथ रहने में भी सतर्कता बरतनी चाहिए। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

बहुत्वैनैव वस्तूनां यथार्थज्ञानमुच्यते ।

अद्वैतज्ञानमित्येतद् द्वैतज्ञानं तदन्यथा ॥

यथा ज्ञानं तथा वस्तु यथा वस्तुस्तथा मतिः ।

नैव ज्ञानार्थयोर्भेदस्तत एकत्ववेदनम् ॥

विविधता में एकता वास्तविक ज्ञान है, अतएव कृत्रिम रूप से विविधता का परित्याग अद्वैतवाद के पूर्ण ज्ञान को प्रतिबिम्बित नहीं करता। श्री चैतन्य महाप्रभु के अचिन्त्य भेदाभेद दर्शन के अनुसार विविधताएँ तो होती हैं, किन्तु वे सब मिलकर एक इकाई का निर्माण करती हैं। ऐसा ज्ञान पूर्ण एकत्व का ज्ञान है।

एतत्सर्वं गृहस्थस्य समाम्नातं यतेरपि ।

गुरुवृत्तिर्विकल्पेन गृहस्थस्यर्तुगामिनः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; सर्वम्—सारे; गृहस्थस्य—गृहस्थ का; समाम्नातम्—वर्णित; यतेः अपि—यहाँ तक कि संन्यासी का; गुरु-वृत्तिः विकल्पेन—गुरु के आदेशों का पालन करने के लिए; गृहस्थस्य—गृहस्थ का; ऋतु-गामिनः—प्रजनन के लिए ऋतुकाल के समय ही मैथुन करना।

सारे नियम तथा विधान गृहस्थ तथा संन्यासी दोनों पर समान रूप से लागू होते हैं। किन्तु गृहस्थ को उपयुक्त अवसर पर प्रजनन के लिए मैथुन करने के लिए गुरु अनुमति प्रदान करता है।

तात्पर्य : कभी-कभी यह गलत समझ लिया जाता है कि गृहस्थ को किसी भी समय मैथुन करने की अनुमति है। यह गृहस्थ जीवन की मिथ्या धारणा है। आध्यात्मिक जीवन में, चाहे कोई गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो, संन्यासी हो या ब्रह्मचारी, हर एक व्यक्ति गुरु के अधीन रहता है। ब्रह्मचारियों तथा संन्यासियों को मैथुन में रत होने के लिए कठोर वर्जन है। इसी प्रकार गृहस्थों के लिए भी कठोर प्रतिबन्ध है। गृहस्थों को गुरु के आदेशानुसार ही स्त्री-संभोग में अनुरक्त होना चाहिए। इसीलिए यहाँ पर उल्लेख है कि मनुष्य अपने गुरु के आदेशों का पालन करे (गुरुवृत्तिर्विकल्पेन)। गुरु की आज्ञा होने पर गृहस्थ कामासक्त जीवन स्वीकार कर सकता है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (७.११) में हुई है। धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि—धार्मिक विधि-विधानों की अवज्ञा किये बिना कामासक्त-जीवन

बिताना ही धर्म है। गृहस्थ को गुरु की आज्ञा से प्रजनन (सन्तानोत्पत्ति) के लिए उपयुक्त अवधि में स्त्रीगमन करने की अनुमति है। यदि गृहस्थ को गुरु किसी विशेष समय में स्त्रीसम्भोग करने की अनुमति देता है, तो गृहस्थ ऐसा कर सकता है, किन्तु यदि गुरु का आदेश न हो तो गृहस्थ ऐसा न करे। गृहस्थ को चाहिए कि *गर्भाधान संस्कार* अनुष्ठान सम्पन्न करने के लिए अपने गुरु की अनुमति प्राप्त कर ले। तभी वह सन्तान उत्पन्न करने के लिए अपनी पत्नी के पास जाए, अन्यथा नहीं। सामान्यतया ब्राह्मण आजीवन ब्रह्मचारी रहता है, किन्तु कुछ ब्राह्मण अपने गुरु की आज्ञा से गृहस्थ बनकर स्त्री-सम्भोग करते हैं। क्षत्रिय को एक से अधिक पत्नियों से विवाह की छूट है, किन्तु इसे भी गुरु की ही आज्ञा से करना चाहिए। गृहस्थ होने का अर्थ यह नहीं होता कि वह चाहे जितनी बार विवाह करे और स्वेच्छापूर्वक कामासक्त जीवन के भोग में रत हो। यह कोई आध्यात्मिक जीवन नहीं है। आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य को अपना सारा जीवन गुरु के मार्ग-निर्देशन में संचालित करना होता है। जो गुरु के निर्देशानुसार आध्यात्मिक जीवन बिताता है, वही कृष्ण की कृपा प्राप्त कर सकता है। *यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः।* आध्यात्मिक जीवन में प्रगति का इच्छुक व्यक्ति यदि मनमाने ढंग से कर्म करता है और गुरु के आदेशों का पालन नहीं करता तो उसको कोई शरण नहीं मिल पाती। *यस्यप्रसादान् न गतिः कुतोऽपि।* गुरु के आदेश के बिना गृहस्थ को भी कामासक्त जीवन में अनुरक्त नहीं होना चाहिए।

अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु ।

स्त्रगन्धलेपालङ्कारास्त्यजेयुर्ये बृहद्व्रताः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अञ्जन—आँख में लगाया जाने वाला सुरमा; अभ्यञ्जन—शिर की मालिश; उन्मर्द—शरीर की मालिश; स्त्री-अवलेख—स्त्री पर दृष्टि डालना या स्त्री का चित्र बनाना; आमिषम्—मांसाहार; मधु—शराब या शहद पीना; स्त्रक्—शरीर को फूलों के हारों से सजाना; गन्ध-लेप—शरीर पर सुगन्धित लेप लगाना; अलङ्कारान्—शरीर को आभूषणों से अलंकृत करना; त्यजेयुः—त्याग देना चाहिए; ये—जिन्होंने; बृहत्-व्रताः—ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कर रखा है।

ब्रह्मचारियों या उन गृहस्थों को जिन्होंने उपर्युक्त विधि से वर्णित ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर रखा है उनके लिए आँखों में सुरमा या अंजन लगाना, शिर में तेल मलना, हाथ से शरीर की मालिश करना, स्त्री को देखना या उसका चित्र बनाना, मांस खाना, शराब पीना, शरीर को

फूलों के हार से सजाना, शरीर में इत्र-फुलेल लगाना या शरीर को आभूषणों से अलंकृत करना मना है। उन्हें इन सबका परित्याग करना चाहिए।

उषित्वैवं गुरुकुले द्विजोऽधीत्यावबुध्य च ।
त्रयीं साङ्गोपनिषदं यावदर्थं यथाबलम् ॥ १३ ॥
दत्त्वा वरमनुज्ञातो गुरोः कामं यदीश्वरः ।
गृहं वनं वा प्रविशेत्प्रव्रजेत्त्र वा वसेत् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

उषित्वा—रहते हुए; एवम्—इस प्रकार; गुरु-कुले—गुरु के संरक्षण में; द्वि-जः—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य, जिनका दो बार जन्म होता है; अधीत्य—वैदिक साहित्य पढ़कर; अवबुध्य—इसे ठीक से समझकर; च—तथा; त्रयीम्—वैदिक वाङ्मय; स-अङ्ग—सहायक अंशों सहित; उपनिषदम्—तथा उपनिषदों को; यावत्-अर्थम्—जहाँ तक सम्भव हो; यथा-बलम्—यथाशक्ति; दत्त्वा—देकर; वरम्—पारिश्रमिक (दक्षिणा); अनुज्ञातः—पूछे जाने पर; गुरोः—गुरु की; कामम्—इच्छाएँ; यदि—यदि; ईश्वरः—समर्थ; गृहम्—गृहस्थ जीवन; वनम्—विरक्त जीवन; वा—अथवा; प्रविशेत्—प्रवेश करना चाहिए; प्रव्रजेत्—या बाहर जाना चाहिए; तत्र—वहाँ; वा—या तो; वसेत्—रहना चाहिए।

उपर्युक्त विधि-विधानों के अनुसार द्विज को—ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को—गुरु के संरक्षण में गुरुकुल में निवास करना चाहिए। वहाँ उसे वेद, वेदाङ्ग तथा उपनिषदों का अध्ययन अपनी शक्ति तथा सामर्थ्य भर करना चाहिए। यदि सम्भव हो तो शिष्य को चाहिए कि वह तब गुरु द्वारा माँगी गई दक्षिणा दे और तब गुरु के आदेशानुसार गुरुकुल छोड़ दे और अपनी इच्छा से किसी अन्य आश्रम को—यथा गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम—को स्वीकार करे।

तात्पर्य : निस्सन्देह, वेदों का अध्ययन करने और उसको समझने में कुछ विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है लेकिन समाज के तीन उच्च वर्णों—ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों—को अपनी-अपनी सामर्थ्य तथा बुद्धि के अनुसार वैदिक साहित्य सीखना चाहिए। दूसरे शब्दों में, शूद्रों तथा अन्त्यजों के अतिरिक्त सबों के लिए वेदाध्ययन अनिवार्य है। वैदिक साहित्य वह ज्ञान प्रदान करता है, जिससे मनुष्य परम सत्य—ब्रह्म, परमात्मा या भगवान्—को समझ सकता है। गुरुकुल का उपयोग वैदिक साहित्य के समझने के लिए ही किया जाना चाहिए। इस समय प्रशिक्षण तथा प्रौद्योगिकी के लिए अनेक शिक्षण संस्थान हैं, किन्तु ऐसे ज्ञान को परम सत्य के ज्ञान से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। अतएव प्रौद्योगिकी तो शूद्रों के लिए है जब कि वेद द्विजों के लिए हैं। फलस्वरूप इस श्लोक में बताया गया है—द्विजोऽधीत्यावबुध्य च त्रयीं साङ्गोपनिषदम्। इस समय कलियुग में एक तरह से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है; कोई भी द्विज नहीं है और अतएव समाज की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है।

इस श्लोक में ध्यान देने की दूसरी बात है कि ब्रह्मचर्य आश्रम से कोई भी व्यक्ति संन्यास आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम या गृहस्थ आश्रम में जा सकता है। ब्रह्मचारी के लिए गृहस्थ बनना अनिवार्य नहीं है। चूँकि परम लक्ष्य तो परम सत्य को जानना है, अतएव विभिन्न आश्रमों में से गुजरना आवश्यक नहीं है। इस तरह कोई भी व्यक्ति ब्रह्मचारी आश्रम से सीधे संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने सीधे ब्रह्मचारी आश्रम से संन्यास आश्रम ग्रहण किया था। दूसरे शब्दों में, उन्होंने गृहस्थ आश्रम या वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार करना अनिवार्य नहीं माना था।

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेष्वधोक्षजम् ।

भूतैः स्वधामभिः पश्येदप्रविष्टं प्रविष्टवत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अग्नौ—अग्नि में; गुरौ—गुरु में; आत्मनि—अपने में, आत्मा में; च—भी; सर्व-भूतेषु—प्रत्येक जीव में; अधोक्षजम्—भगवान् को, जो न तो भौतिक आँखों से देखे जा सकते हैं और न ही अन्य भौतिक इन्द्रियों द्वारा अनुभवगम्य हैं; भूतैः—सारे जीवों के साथ; स्व-धामभिः—भगवान् के सामान के साथ-साथ; पश्येत्—देखना चाहिए; अप्रविष्टम्—बिना प्रविष्ट हुए; प्रविष्ट-वत्—प्रविष्ट हुए की भाँति।

मनुष्य को इसकी अनुभूति करनी चाहिए कि भगवान् विष्णु एक ही साथ अग्नि, गुरु, आत्मा तथा समस्त जीवों में सभी परिस्थितियों में प्रविष्ट हैं और नहीं भी हैं। वे प्रत्येक वस्तु के पूर्ण नियामक के रूप में बाह्य तथा आन्तरिक रूप से स्थित हैं।

तात्पर्य : भगवान् की सर्वव्यापकता की अनुभूति ही परम सत्य का पूर्ण साक्षात्कार है, जिसे वैदिक साहित्य के अध्ययन द्वारा प्राप्त करना होता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में कहा गया है—*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्*—ब्रह्माजीण्ड में प्रत्येक जीव के हृदय में तथा परमाणु तक के भीतर स्थित हैं। हमें यह समझ लेना चाहिए कि जब भी भगवान् विद्यमान रहते हैं, तो वे अपने नाम, रूप, पार्षदों तथा दासों के समेत रहते हैं। जीव भगवान् का अंश है। इस तरह मनुष्य को समझना चाहिए कि जब भगवान् परमाणु के भीतर प्रविष्ट हैं, तो जीव भी उसी में हैं। मनुष्य को भगवान् के अचिन्त्य गुण को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि भौतिक दृष्टि से कोई कभी यह नहीं समझ सकता कि भगवान् किस प्रकार सर्वव्यापी होकर भी अपने गोलोक वृन्दावन में स्थित हैं। यह अनुभूति तभी सम्भव है जब मनुष्य विविध आश्रमों के विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करे। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का कहना है—

अप्रविष्टः सर्वगतः प्रविष्टस्त्वनुरूपवान् ।

एवं द्विरूपो भगवान् हरिरेको जनार्दनः ॥

भगवान् अपने आद्यरूप में सभी वस्तुओं में प्रविष्ट नहीं हैं (अप्रविष्टः) लेकिन अपने निराकार रूप में वे प्रविष्ट हैं (प्रविष्टः) । इस प्रकार वे एक ही समय प्रविष्ट हैं और नहीं भी हैं । भगवद्गीता (९.४) में इसकी व्याख्या की गई है जहाँ भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

“यह समग्र ब्रह्माण्ड मेरे अव्यक्त रूप में मुझसे व्याप्त है । सारे जीव मुझमें हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ ।” भगवान् अपना विरोध कर सकते हैं । इस प्रकार एकत्व में विविधता है (एकत्वं बहुत्वम्) ।

एवं विधो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिर्गृही ।

चरन्विदितविज्ञानः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम् विधः—इस विधि से; ब्रह्मचारी—चाहे ब्रह्मचारी हो; वानप्रस्थः—चाहे कोई वानप्रस्थ आश्रम का हो; यतिः—या कि संन्यास आश्रम में हो; गृही—या गृहस्थाश्रम में हो; चरन्—आत्म-साक्षात्कार के अभ्यास तथा परम सत्य के ज्ञान द्वारा; विदित-विज्ञानः—परम सत्य विषयक विज्ञान से पूर्णतया अवगत; परम्—परम; ब्रह्म—परम सत्य; अधिगच्छति—समझ सकता है ।

इस प्रकार से अभ्यास करते हुए चाहे कोई ब्रह्मचारी आश्रम में हो, गृहस्थ आश्रम में हो अथवा वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम में हो, उसे परम सत्य (ब्रह्म) की सर्वव्यापकता की सदैव अनुभूति होनी चाहिए, क्योंकि इस विधि से ब्रह्म को समझा जा सकता है ।

तात्पर्य : यह आत्म-साक्षात्कार का शुभारम्भ है । सर्वप्रथम मनुष्य को यह समझना होगा कि ब्रह्म किस तरह सर्वत्र विद्यमान है और वह किस प्रकार कर्म करता है । यह विद्या ब्रह्मजिज्ञासा कहलाती है और मानव जीवन का यही असली लक्ष्य है । ऐसे ज्ञान के बिना कोई अपने को मनुष्य नहीं कह सकता प्रत्युत वह पशु जगत में रहता है । जैसाकि कहा गया है—स एव गोखरः—ऐसे ज्ञान के बिना वह गाय या गधे के तुल्य होता है ।

वानप्रस्थस्य वक्ष्यामि नियमान्मुनिसम्मतान् ।

यानास्थाय मुनिर्गच्छेद्विषिलोकमुहाञ्जसा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

वानप्रस्थस्य—वानप्रस्थ आश्रम वाले व्यक्ति के (अवकाश प्राप्त जीवन); वक्ष्यामि—अब मैं बतलाऊँगा; नियमान्—नियमों या विधि-विधानों को; मुनि-सम्मतान्—बड़े-बड़े मुनियों, दार्शनिकों तथा साधु पुरुषों द्वारा मान्य; यान्—जिनको; आस्थाय—अभ्यास करके या स्थापित करके; मुनिः—साधु व्यक्ति; गच्छेत्—प्रोन्नत कर दिया जाता है; ऋषि-लोकम्—ऋषियों, मुनियों वाले लोक (महर्लोक) को; उह—हे राजा; अञ्जसा—बिना कठिनाई के।

हे राजा, अब मैं वानप्रस्थ की योग्यताओं का वर्णन करूँगा, जो कि पारिवारिक जीवन से विरक्ति है। वानप्रस्थ के विधि-विधानों का कठोरता से पालन करते हुए वह महर्लोक नामक उच्चतर लोक को सरलता से भेजा जा सकता है।

न कृष्टपच्यमशनीयादकृष्टं चाप्यकालतः ।

अग्निपक्वमथामं वा अर्कपक्वमुताहरेत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कृष्ट-पच्यम्—भूमि को जोतकर उगाये गये अन्न; अशनीयात्—खाना चाहिए; अकृष्टम्—बिना भूमि जोते उगे; च—तथा; अपि—भी; अकालतः—समय से पहले पका हुआ; अग्नि-पक्वम्—अग्नि में पकाया हुआ अन्न; अथ—भी; आमम्—आम; वा—अथवा; अर्क-पक्वम्—सूर्य के प्रकाश से अपने आप पका भोजन; उत—ऐसा आदेश है; आहरेत्—वानप्रस्थ खाए।

वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाले व्यक्ति को जुती हुई जमीन में उगा अन्न नहीं खाना चाहिए। उसे बिना जुती जमीन में उगे उन अन्नों को भी नहीं खाना चाहिए जो पूरी तरह पके न हों। न ही वानप्रस्थ को अग्नि में पका अन्न खाना चाहिए। निस्सन्देह, उसे सूर्य प्रकाश में पके फल ही खाने चाहिए।

वन्यैश्चरुपुरोडाशान्निर्वपेत्कालचोदितान् ।

लब्धे नवे नवेऽन्नाद्ये पुराणं च परित्यजेत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

वन्यैः—बिना जोते जंगल में उत्पन्न फलों तथा अन्नों से; चरु—अग्नि-यज्ञ में आहुति में डाले जाने वाले अन्न; पुरोडाशान्—चरु से तैयार किए गए पिंड; निर्वपेत्—सम्पन्न करना चाहिए; काल-चोदितान्—अपने आप उगा; लब्धे—प्राप्त होने पर; नवे—नवीन; नवे अन्न-आद्ये—नया उत्पन्न किया गया अन्न; पुराणम्—पुराने अन्न का संग्रह; च—तथा; परित्यजेत्—छोड़ दे।

वानप्रस्थ को चाहिए कि जंगल में अपने आप उगे फलों तथा अन्नों से पुरोडाश को यज्ञ में डालने के लिए तैयार करे। जब उसे थोड़ा सा नया अन्न प्राप्त हो जाए तो वह अन्न के पुराने संग्रह को त्याग दे।

अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाद्रिकन्दरम् ।

श्रयेत हिमवाय्वग्निवर्षाकार्कतपषाट्स्वयम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अग्नि—अग्नि; अर्थम्—रखने के लिए; एव—केवल; शरणम्—झोपड़ी; उट-जम्—फूस की बनी; वा—अथवा; अद्रि-कन्दरम्—पर्वत की कन्दरा में; श्रयेत—वानप्रस्थी शरण ले; हिम—बर्फ; वायु—तेज हवा; अग्नि—आग; वर्ष—वर्षा; अर्क—सूर्य का; आतप—चमकना; षाट्—सहन करते हुए; स्वयम्—स्वयं।

वानप्रस्थ को चाहिए कि पवित्र अग्नि को रखने के लिए वह या तो फूस की झोपड़ी बनाए या केवल पर्वत की कन्दरा में शरण ले, किन्तु वह स्वयं हिमपात, प्रभंजन, अग्नि, वर्षा तथा सूर्य के ताप को सहन करने का अभ्यास करे।

केशरोमनखश्मश्रुमलानि जटिलो दधत् ।

कमण्डल्वजिने दण्डवल्कलाग्निपरिच्छदान् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

केश—सिर के बाल; रोम—शरीर पर उगे रोएँ; नख—नाखून; श्मश्रु—मूँछें; मलानि—तथा शरीर का मैल; जटिलः—बाल की जटा; दधत्—रखे; कमण्डलु—जलपात्र; अजिने—तथा मृगचर्म; दण्ड—डण्डा; वल्कल—पेड़ की छाल; अग्नि—आग; परिच्छदान्—वस्त्रों को।

वानप्रस्थ को चाहिए कि सिर पर जटा रखे और अपने शरीर के बाल, नाखून तथा मूँछें बढ़ने दे। वह अपने शरीर की धूल साफ न करे। वह कमण्डल, मृगछाला तथा दण्ड रखे, पेड़ की छाल का आवरण पहने और अग्नि जैसे (गेरुवे) रंग के वस्त्रों का प्रयोग करे।

चरेद्वने द्वादशाब्दानष्टौ वा चतुरो मुनिः ।

द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

चरेत्—रहता रहे; वने—जंगल में; द्वादश-अब्दान्—बारह वर्षों तक; अष्टौ—आठ वर्ष तक; वा—अथवा; चतुरः—चार वर्ष; मुनिः—सन्त विचारवान् व्यक्ति; द्वौ—दो; एकम्—एक; वा—अथवा; यथा—जिससे; बुद्धिः—बुद्धि; न—नहीं; विपद्येत—मोहग्रस्त; कृच्छ्रतः—कठिन तपस्या के कारण।

अत्यधिक विचारवान् होने के कारण वानप्रस्थी को बारह वर्ष, आठ वर्ष, चार वर्ष, दो वर्ष या कम से कम एक वर्ष तक जंगल में रहना चाहिए। उसे इस तरह व्यवहार करना चाहिए कि वह अत्यधिक तपस्या के कारण विचलित या त्रस्त न हो उठे।

यदाकल्पः स्वक्रियायां व्याधिभिर्जरयाथवा ।

आन्वीक्षिक्यां वा विद्यायां कुर्यादनशनादिकम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अकल्पः—कार्य करने में अक्षम; स्व-क्रियायाम्—अपने नियत कार्यों में; व्याधिभिः—रोग के कारण; जरया—या वृद्धावस्था के कारण; अथवा—या; आन्वीक्षिक्याम्—आध्यात्मिक प्रगति में; वा—अथवा; विद्यायाम्—ज्ञान की प्रगति में; कुर्यात्—करे; अनशन-आदिकम्—पर्याप्त भोजन न ग्रहण करना।

जब वह रोग या वृद्धावस्था के कारण आध्यात्मिक चेतना में प्रगति करने या वेदाध्ययन में अपने निमत कार्य करने में असमर्थ हो जाये तब उसे अन्न न खाने के व्रत का अभ्यास करना चाहिए।

आत्मन्यग्नीन्समारोष्य सन्न्यस्याहं ममात्मताम् ।
कारणेषु न्यसेत्सम्यक्सङ्घातं तु यथार्हतः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

आत्मनि—अपने में ही; अग्नीन्—शरीर के भीतर की अग्नि-तत्त्वों को; समारोष्य—ठीक से रखकर; सन्न्यस्य—त्याग कर; अहम्—मिथ्या पहचान; मम—मिथ्या धारणा; आत्मताम्—अपने ही शरीर की; कारणेषु—पाँचों तत्त्वों में जो भौतिक शरीर के कारण हैं; न्यसेत्—लीन कर दे; सम्यक्—पूर्णतया; सङ्घातम्—संयोग, मेल; तु—लेकिन; यथा-अर्हतः—जैसा अनुकूल हो।

उसे अग्नि को अपने में (आत्मा में) भलीभाँति रख लेना चाहिए और इस तरह शारीरिक ममत्व को छोड़ दे जिसके कारण वह शरीर को निजी या आत्मा मानता है। वह धीरे-धीरे भौतिक शरीर को पाँच तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) में लीन कर दे।

तात्पर्य : पाँचों भौतिक तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) कारण हैं और शरीर कार्य है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि यह शरीर पाँच तत्त्वों के संयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं है। भौतिक शरीर तथा पाँच भौतिक तत्त्वों का यह तादात्म्य ही वह ज्ञान है। पूर्ण ज्ञान में ब्रह्म में तादात्म्य का अर्थ है भलीभाँति यह समझ लेना कि मनुष्य शरीर नहीं, अपितु आत्मा है।

खे खानि वायौ निश्वासांस्तेजःसूष्माणमात्मवान् ।
अप्स्वसृक्श्लेष्मपूयानि क्षितौ शेषं यथोद्भवम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

खे—आकाश में; खानि—शरीर के सारे छिद्रों को; वायौ—वायु में; निश्वासान्—शरीर के भीतर चक्कर लगाने वाली विभिन्न वायु को (प्राण, अपान इत्यादि); तेजःसु—अग्नि में; सूष्माणम्—शरीर की गर्मी को; आत्म-वान्—आत्मा को जानने वाला व्यक्ति; अप्सु—जल में; असृक्—रक्त; श्लेष्म—कफ; पूयानि—तथा मूत्र; क्षितौ—पृथ्वी में; शेषम्—शेष या बचे हुए को (चमड़ी, हड्डी तथा शरीर के अन्य कठोर अंग); यथा-उद्भवम्—जिससे सभी उत्पन्न।

गम्भीर, स्वरूपसिद्ध, ज्ञानवान व्यक्ति को चाहिए कि वह शरीर के विभिन्न अंगों को उनके मूल स्रोतों में लीन कर दे। शरीर के छिद्र आकाश द्वारा उत्पन्न हैं, श्वास की क्रिया वायु से उत्पन्न है, शरीर की ऊष्मा अग्नि द्वारा जनित है और वीर्य, रक्त तथा कफ जल द्वारा उत्पन्न हैं। त्वचा,

पेशी तथा अस्थि जैसी कठोर वस्तुएँ पृथ्वी द्वारा उत्पन्न हैं। इस प्रकार शरीर के सारे अवयव विभिन्न तत्त्वों द्वारा उत्पन्न होते हैं। अतएव इन सबों को पुनः उन्हीं तत्त्वों में लीन कर देना चाहिए।

तात्पर्य : स्वरूपसिद्ध होने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य शरीर के विभिन्न तत्त्वों के मूल स्रोतों को जान ले। यह शरीर त्वचा, अस्थि, पेशी, रक्त, वीर्य, मूत्र, मल, ऊष्मा, श्वास इत्यादि के मेल से बना है और ये सारी वस्तुएँ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश से प्राप्त होती हैं। मनुष्य को इन समस्त शारीरिक अवयवों के स्रोतों से पूर्णतया अभिन्न होना चाहिए। तभी वह स्वरूपसिद्ध या आत्मवान् बनता है।

वाचमग्नौ सवक्तव्यामिन्द्रे शिल्पं करावपि ।

पदानि गत्या वयसि रत्योपस्थं प्रजापतौ ॥ २६ ॥

मृत्यौ पायुं विसर्गं च यथास्थानं विनिर्दिशेत् ।

दिक्षु श्रोत्रं सनादेन स्पर्शनाध्यात्मनि त्वचम् ॥ २७ ॥

रूपाणि चक्षुषा राजन्ज्योतिष्यभिनिवेशयेत् ।

अप्सु प्रचेतसा जिह्वां घ्रेयैर्घ्राणं क्षितौ न्यसेत् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

वाचम्—वाणी; अग्नौ—अग्नि देव में; स-वक्तव्याम्—वाणी के कर्म को; इन्द्रे—इन्द्र में; शिल्पम्—हाथ से कर्म करने की सामर्थ्य या कला-कौशल को; करौ—तथा हाथ में; अपि—निस्सन्देह; पदानि—पाँवों को; गत्या—चलने की शक्ति सहित; वयसि—भगवान् विष्णु में; रत्या—कामेच्छा; उपस्थम्—यौनेन्द्रियों समेत; प्रजापतौ—प्रजापति में; मृत्यौ—मृत्युदेव में; पायुम्—गुदा को; विसर्गम्—इसकी क्रिया सहित, मलोत्सर्ग करना; च—भी; यथा-स्थानम्—सही स्थान में; विनिर्दिशेत्—सूचित करे; दिक्षु—विभिन्न दिशाओं में; श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रिय; स-नादेन—कम्पन समेत; स्पर्शन—स्पर्श से; अध्यात्मनि—वायुदेव में; त्वचम्—स्पर्शेन्द्रिय को; रूपाणि—स्वरूप; चक्षुषा—आँखों की ज्योति समेत; राजन्—हे राजा; ज्योतिषि—सूर्य में; अभिनिवेशयेत्—लीन करे; अप्सु—जल में; प्रचेतसा—वरुण देव समेत; जिह्वाम्—जीभ को; घ्रेयैः—सुगन्ध विषय के साथ; घ्राणम्—सँघने की शक्ति; क्षितौ—पृथ्वी में; न्यसेत्—लीन कर दे।

तत्पश्चात् वाणी-विषय को वाक् इन्द्रिय (जीभ) सहित अग्नि को समर्पित कर दे। कला-कौशल तथा दोनों हाथ इन्द्रदेव को दे दे। गति करने की शक्ति तथा पाँव भगवान् विष्णु को दे दे। उपस्थ सहित इन्द्रियसुख प्रजापति को सौंप दे। गुदा को मलोत्सर्ग क्रिया सहित उसके असली स्थान मृत्यु को सौंप दे। ध्वनि-कम्पन समेत श्रवणेन्द्रिय को दिशाओं के अधिपति को दे दे। स्पर्श समेत स्पर्शेन्द्रिय वायु को समर्पित कर दे। दृष्टि समेत रूप को सूर्य को सौंप दे। वरुण देव समेत जीभ जल को दे दे तथा दोनों अश्विनी कुमार देवों सहित घ्राणशक्ति पृथ्वी को अर्पित कर दे।

मनो मनोरथैश्चन्द्रे बुद्धिं बोध्यैः कवौ परे ।
 कर्माण्यध्यात्मना रुद्रे यदहं ममताक्रिया ।
 सत्त्वेन चित्तं क्षेत्रज्ञे गुणैर्वैकारिकं परे ॥ २९ ॥
 अप्सु क्षितिमपो ज्योतिष्यदो वायौ नभस्यमुम् ।
 कूटस्थे तच्च महति तदव्यक्तेऽक्षरे च तत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मनः—मन को; मनोरथैः—भौतिक इच्छाओं समेत; चन्द्रे—चन्द्रमा में जो मनोदशा के देवता हैं; बुद्धिम्—बुद्धि को; बोध्यैः—बुद्धि के विषय समेत; कवौ परे—परम बुद्धिमान व्यक्ति ब्रह्माजी में; कर्माणि—भौतिक कार्यों को; अध्यात्मना—मिथ्या अहंकार समेत; रुद्रे—शिव (रुद्र) में; यत्—जहाँ; अहम्—मैं शरीर हूँ; ममता—शरीर सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु मेरी है; क्रिया—ऐसा कार्य; सत्त्वेन—जगत की धारणा सहित; चित्तम्—चेतना को; क्षेत्र-ज्ञे—आत्मा में; गुणैः—भौतिक गुणों के द्वारा संचालित भौतिक कार्यकलापों समेत; वैकारिकम्—भौतिक गुणों के अधीन जीवों को; परे—परमात्मा में; अप्सु—जल में; क्षितिम्—पृथ्वी; अपः—जल; ज्योतिषि—ज्योतिष्कों में, विशेषतया सूर्य में; अदः—चमक; वायौ—वायु में; नभसि—आकाश में; अमुम्—वह; कूटस्थे—देहात्मबुद्धि में; तत्—वह; च—भी; महति—महत्त्व में; तत्—वह; अव्यक्ते—अप्रकट में; अक्षरे—परमात्मा में; च—भी; तत्—उस।

मन को मनोरथों समेत चन्द्रदेव में लीन कर दे। बुद्धि के सारे विषयों को बुद्धि समेत ब्रह्माजी में स्थापित कर दे। मिथ्या अहंकार, जो प्रकृति के गुणों के अधीन रहता है और मनुष्य को यह सोचने के लिए प्रेरित करता है “मैं यह शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है” उसे भौतिक कार्यकलापों समेत मिथ्या अहंकार के अधिपति रुद्र में लीन कर दे। भौतिक चेतना को विचार के लक्ष्य समेत प्रत्येक जीवात्मा में और भौतिक प्रकृति गुणों के अधीन कर्म करने वाले देवताओं को विकारयुक्त जीव समेत परब्रह्म में लीन कर दे। पृथ्वी को जल में, जल को सूर्य की ज्योति में, इस ज्योति को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को मिथ्या अहंकार में, मिथ्या अहंकार को समस्त भौतिक शक्ति (महत्त्व) में, फिर इस महत्त्व को अप्रकट अवयवों (भौतिक शक्ति का प्रधान स्वरूप) में तथा इस अप्रकट अवयव को परमात्मा में लीन कर दे।

इत्यक्षरतयात्मानं चिन्मात्रमवशेषितम् ।
 ज्ञात्वाद्द्वयोऽथ विरमेद्दग्धयोनिरिवानलः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अक्षरतया—आध्यात्मिक होने से; आत्मानम्—स्वयं (जीवात्मा); चित्-मात्रम्—पूर्णतया आध्यात्मिक; अवशेषितम्—शेषलब्धि (तत्त्वों के एक-एक करके परमात्मा में लीन हो जाने पर); ज्ञात्वा—जानकर; अद्द्वयः—बिना अन्तर के या परमात्मा के ही गुण वाला; अथ—इस प्रकार; विरमेत्—भौतिक जगत से अलग हो जाए; दग्ध-योनिः—जिसका स्रोत (काष्ठ) जल चुका है; इव—सदृश; अनलः—लपटें।

जब इस तरह सारी भौतिक उपाधियाँ अपने-अपने तत्त्वों में मिल जाँय तो जीव अन्ततोगत्वा पूर्णतया आध्यात्मिक हो जाता है और गुण में परब्रह्म जैसा। इस संसार से वह उसी तरह अवकाश ले ले जिस प्रकार काठ के जल जाने पर उससे उठने वाली लपटें शान्त हो जाती हैं। जब भौतिक शरीर विविध भौतिक तत्त्वों में लौट जाता है, तो केवल आध्यात्मिक जीव बचता है। यही ब्रह्म है और यह गुण में परब्रह्म के तुल्य है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत “पूर्ण समाजः चार आध्यात्मिक वर्ग” नामक बाहरवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।